Volume: 4 Issue: 12 Pages: 77-79

स्वातंत्र्योत्तर बिहार की राजनीति में दलित प्रभावः संघर्ष, सफलताएं और चुनौतियां

[*1] रामभजन पासवान एवं [2]डॉ. अभय कुमार सिंह

[*1] शोध छात्र, (नेट-जे.आर.एफ) स्नातकोत्तर इतिहास विभाग जय प्रकाश विश्वविद्यालय, छपरा, बिहार, भारत।

[2] सहायक प्रोफेसर स्नातकोत्तर इतिहास विभाग जय प्रकाश विश्वविद्यालय, छपरा, बिहार, भारत।

Article Info.
E-ISSN: 2583-6528
Impact Factor (SJIF): 6.876
Peer Reviewed Journal
Available online:
www.alladvancejournal.com

Received: 10/Nov/2025
Accepted: 09/Dec/2025

***Corresponding Author**
रामभजन पासवान
शोध छात्र, (नेट-जे.आर.एफ) स्नातकोत्तर इतिहास विभाग जय प्रकाश विश्वविद्यालय, छपरा, बिहार, भारत।

सारांश:
15 अगस्त, 1947 को स्वतंत्रता हासिल करने के साथ भारतीय समाज की पुनर्रचना की प्रयासों के एक विराट दौर की शुरुआत हुई। इस दौर में कई महत्वपूर्ण उपलब्धियाँ हासिल की गई, अनेक अविस्मरणीय संघर्ष हुए, इस पुनर्रचना के प्रश्न को केन्द्र कर कई वैचारिक-राजनीतिक धाराएँ जन्म ले चुकी थी साथ ही राष्ट्र-निर्माण, सामाजिक पुनर्गठन और लोकतांत्रिक विस्तार की प्रक्रिया एक नए चरण में प्रवेश करती है, जहाँ लोकतंत्र को सामाजिक असमानताओं को कम करने तथा वंचित समुदायों को राजनीतिक मुख्यधारा में स्थान दिलाने के प्रभावी साधन के रूप में देखा गया। बिहार जैसी जटिल एवं जाति-आधारित सामाजिक संरचना वाले राज्य में दलित समुदायों की राजनीतिक सक्रियता, नेतृत्व के उभार, सामाजिक चेतना, संगठित संघर्ष और नीतिगत हस्तक्षेपों ने राज्य की राजनीति को नए आयाम प्रदान किए। स्वतंत्रता-पूर्व विकसित अनेक सामाजिक दृढ़ राजनीतिक विचारधाराओं ने स्वतंत्रता के बाद लोकतांत्रिक व्यवस्था में अपनी वैधता और प्रभाव को और अधिक मजबूत किया, जिसके परिणामस्वरूप दलित वर्गों में अधिकार-चेतना, प्रतिनिधित्व की आकांक्षा तथा राजनीतिक सहभागिता का विस्तार हुआ। यह शोध पत्र इस तथ्य को रेखांकित करता है कि लोकतंत्र ने यद्यपि इन समुदायों को नए अवसर, राजनीतिक भागीदारी और सामाजिक उन्नति के मार्ग प्रदान किए, किन्तु सामाजिक विषमता, राजनीतिक वर्चस्ववाद, आर्थिक निर्बलता, शिक्षा एवं संसाधनों की कमी तथा संस्थागत अवरोध जैसी चुनौतियाँ आज भी उनके समक्ष गंभीर रूप से विद्यमान हैं। प्रस्तुत शोध का उद्देश्य दलित समुदायों की राजनीतिक उपस्थिति, संघर्षों की प्रकृति, उपलब्धियों, सीमाओं एवं भविष्य की संभावनाओं को निष्पक्षता, तथ्यपरकता और गहन विश्लेषण के साथ स्पष्ट करना है, ताकि बिहार के सामाजिक-राजनीतिक परिदृश्य में उनके योगदान एवं परिवर्तनकारी हस्तक्षेपों को अधिक व्यापक एवं वस्तुनिष्ठ दृष्टि से समझा जा सके।

मुख्य शब्दः स्वातंत्र्योत्तर, बिहार, अस्पृश्यता, दलित, चेतना, आरक्षण, लोकतंत्र, पंचायती राज, विधायिका, राजनीति।

प्रस्तावना:

राजनीति मूलतः 'सत्ता-विमर्श' है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में 'सत्ता' की व्याप्ति होती है। यह व्याप्ति कई बार दृश्य होती है, तो कई बार अदृश्य भी रहती है। दृश्य हो या अदृश्य, किंतु 'सत्ता' की उपस्थिति वहाँ होती जरूर है। तात्पर्य यह कि सत्ता राजनीति का केंद्रीय विधान है। कहना न होगा कि राजनीतिक आंदोलन का मकसद 'सत्ता की संरचना' में परिवर्तन कर 'समाज की संरचना' में परिवर्तन करना होता है और सामाजिक आंदोलन का मकसद 'सामाजिक संरचना' में परिवर्तन कर 'सत्ता की संरचना' में परिवर्तन करना होता है। दोनों एक-दूसरे के पूरक भी हैं और एक-दूसरे से टकराते भी हैं। [1] एक राजनीतिक इकाई के रूप में दलित वर्गों को सबसे पहले 1919 के अधिनियम में स्वीकृति मिली। दरअसल, नवंबर-दिसंबर 1917 में ब्रिटिश मंत्रिमंडल के भारत-मंत्री मांटेग्यू के भारत दौरे के समय, दलित वर्गों के प्रतिनिधियों ने पहली बार उनके समक्ष अपनी माँगें रखी थीं। तब अछूतों का प्रतिनिधित्व करनेवाले संगठनों में प्रमुख थे- मद्रास प्रेसीडेंसी के अछूतों का संघ पंचम कावली अभिवर्धी-अभिमान संघ, मद्रास आदि द्रविड् जन सभा और बंगाल के अछूतों का संगठन।'ज्ञातव्य है कि तब तक भारत के विभिन्न अंचलों में दलित वर्गों के संगठन बनने लगे थे। वैसे (संभवतः) दलित वर्गों का सबसे पुराना सामाजिक-राजनीतिक संगठन था। [2]

बहरहाल, 1919 के अधिनियम में पहली बार विधायिका में दलित वर्ग प्रतिनिधियों के मनोनयन को मान्यता दी गई। गवर्नर जनरल ने केंद्रीय विधान सभा में जिन 14 गैर-सरकारी सदस्यों का मनोनयन किया, उनमें एक दलित वर्गों का प्रतिनिधि था। 1919 के अधिनियम के बाद बिहार और उड़ीसा विधान परिषद के लिए जो आम चुनाव हुआ, उसमें गांधीजी की कर्मभूमि नार्थ चंपारण से एक दलित

उम्मीदवार रामलाल चमार भी खड़े हुए थे। विधान परिषद के लिए चुनाव लड़ने वाले वे पहले दलित थे। विधान परिषद के साथ-साथ नगरपालिकाओं तथा जिला बोर्डों में दलित वर्गों के प्रतिनिधित्व का मसला भी इसी समय उठा।[3] 1932 में केन्द्रीय मताधिकार समिति (लोथियन समिति) द्वारा जिन मामलों की समीक्षा की जा रही थी, समिति की नजर में प्रदेश की दलित जातियों की पूरी सूची बनाना अत्यंत कठिन था। उनको समुचित रूप से परिभाषित करने में अनेक दिक्कतें थीं। 1931 की जनगणना में जिन जातियों को दलित वर्गों के रूप में वर्गीकृत किया गया था, उनमें से कुछ यथा बाउरी, भोगता, भुइया, भूमिज, घासी, पान, रजवार और तुरी-जनजातियों के रूप में भी वर्गीकृत किए गए थे... प्रदेश के विभिन्न हिस्सों में विभिन्न वर्गों की अस्पृश्यता की मात्रा भी अलग-अलग थी। कुछ जिलों के कुछ समुदायों तथा उप-जातियों के सदस्यों को कुएँ से पानी तो लेने दिया जाता था, लेकिन मंदिरों में उनका प्रवेश वर्जित था। ऐसी भी जगहें थीं जहाँ दलित वर्गों के बच्चों को स्कूल जाने की इजाजत दी जाती थी। आमतौर पर जिन वर्गों को अछूत माना जाता था, वे थे-चमार, दुसाध, डोम, हललखोर, हारी, मोची, मुसहर, पान। [4]

1935 ई0 के भारत शासन अधिनियम के अंतर्गत 1937 बिहार में काँग्रेस मंत्रिमंडल का गठन हुआ। बिहार के दलितों के बीच सर्वाधिक कार्य किए दलित नेता-जगजीवन राम इन्होनें समाज में फैली छुआछूत,अस्पृष्यता, ऊँच-नीच तथा अन्य कुरितियों का बड़े जोरदार ढंग से विरोध किया और समाज में समानता लाने तथा दलितों की स्थिति सुधारनें का प्रयास किए। [5] कांग्रेसी मंत्रिमंडल ने दलितों के उत्थान के प्रयास के तहत समितियों का गठन किया जिसमें सरकारी और गैर सरकारी लोगों को सदस्य बनाया गया। संथाल परगना के प्रशासन की जांच करनी थी और उसमें ऐसे सुधार एवं परिवर्तन की अनुशंसा करनी थी जिसमें आदिवासियों का कल्याण हो, कार्यपालिका से न्यायपालिका के कांग्रेस मंत्रिमंडल ने अल्पसंख्यक के पूर्ण सुरक्षा के लिए कई कदम उठाए. इसके अलावे श्री कृष्ण सिंह, अनुग्रह नारायण सिंह, जय प्रकाश नारायण, जगजीवन राम, जगलाल चैधरी आदि जैसे कई नेताओं द्वारा बिहार में दलितोंत्थान के लिए महत्वपूर्ण कार्य किए। [6]

प्रस्तुति एवं विश्लेषण

आजादी के आरंभिक वर्षों में दलित आंदोलन की माँगों के परिप्रेक्ष्य में कई कदम उठाए गए। संविधान की धारा 17 के तहत अस्पृश्यता पर, किसी भी रूप में उसके व्यवहार पर पाबंदी लगा दी गई। प्रदेश में (1949) एवं केंद्रीय स्तर पर (दि अनटचेबिलिटी (ऑफेंसेज) एक्ट, 1955) अस्पृश्यता को दंडनीय अपराध बना दिया गया। विधान सभा और संसद में सीटों के आरक्षण पर पहले ही अमल हो चुका था, सरकारी नौकरियों में आरक्षण भी लागू किया गया। दलित छात्रों-छात्राओं के लिए छात्रवृत्तियों और छात्रावासों तथा अन्य सुविधाओं की व्यवस्थित प्रणाली शुरू की गई, केंद्रीय स्तर पर न्यूनतम मजदूरी कानून (1948) बना, दलितों और आदिवासियों के लिए पृथक कल्याण विभाग और उसका एक पृथक मंत्रालय बनाया गया। [7] आगे चलकर, उनके रोजगार तथा व्यवसाय के लिए वित्तीय सहायता प्रदान करने हेतु निगम बने..... अतीत की तुलना में यह सब महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ थीं। फिर भी जमीनी स्तर पर स्थिति अब भी काफी हद तक पहले की तरह ही थी। दलितों के प्रति सवर्ण जातियों की मानसिकता में खास परिवर्तन नहीं आया था। उनके साथ भेदभाव और उन पर अत्याचार की घटनाएँ घटती ही रहतीं। उनके बीच साक्षरता अब भी नाम-मात्र ही थी। उनकी विशाल आबादी अब भी कमिया थी। जमींदारी-उन्मूलन का इस पर कोई खास असर नहीं पड़ा था। [8]

जुलाई, 1949 में हरिजन उत्थान के लिए पंचवर्षीय योजना तैयार करने के उद्देश्य से बिहार सरकार ने एक हरिजन जाँच समिति का गठन किया था। इस समिति के अध्यक्ष थे ए. वी. ठक्कर और इसके सदस्य थे- अर्थशास्त्र के पूर्व प्रोफेसर और पब्लिक इंस्ट्रक्शन के निदेशक गोरखनाथ सिन्हा, पुराने पटना विश्वविद्यालय के कुलपति सारंगधर सिंह, प्रो. बलदेव नारायण, विहार हरिजन सेवक संघ के एन. एन. सिन्हा, माधवीर दास और विधायकगण (चंद्रिको राम, जमुना प्रसाद सिन्हा, भागवत प्रसाद और जयदेव प्रसाद । समिति ने नवंबर, 1952 में अपनी रिपोर्ट सौंपी थी। समिति ने अपनी जाँच-पड़ताल के क्रम में पटना, मुजफ्फरपुर, आरा, वेतिया, भागलपुर, पुरुलिया, रांची, दरभंगा, छपरा और डाल्टनगंज का दौरा किया। वे सुदूर गाँवों में गए। एक प्रश्नावली की 5000 प्रतियाँ वितरित कीं, हालाँकि मात्र 85 लोगों ने उनका जवाब देना मुनासिब समझा। समिति ने हरिजनों की वास्तविक जरूरतों और उनको पूरा करने के उपायों पर विचार करते हुए अपनी अनुशंसाओं को आर्थिक, शैक्षणिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, प्रशासनिक और राजनीतिक श्रेणियों में वर्गीकृत किया। [9] विधानसभा और संसद में उनका प्रतिनिधित्व (पूना समझौते के कारण) ठीक-ठाक था। (भारतीय संविधान के तहत बिहार विधान सभा में उनके लिए 1952 में 46 सीटें आरक्षित थीं। इन 46 हरिजन विधायकों में कांग्रेस के 38, सोशलिस्ट पार्टी के 3, झारखंड पार्टी के 2, और अन्य 3 विधायक थे।) प्रसंगवश, विधान सभा में उन दिनों दलितों का प्रतिनिधित्व पिछड़ी जातियों की तुलना में काफी ज्यादा था। 1946 में जब (भारत सरकार अधिनियम, 1935 के तहत) दलितों के लिए 15 सीटें आरक्षित थीं, तब करीब 42 लाख आबादीवाले यादव समुदाय के मात्र 2 विधायक थे और कुर्मी तथा कोइरी समुदाय के 7। (कायस्थ विधायक थे 20, भूमिहार ब्राह्मण 16 और राजपूत थे 18) [10]

13 नवम्बर 1953 को बिहार सरकार ने निश्चय किया की दलितों की हलात में सुधार लाने के लिए राज्य स्तर पर सरकारी नौकरियों में 12% सीटे अनुसूचित जातियों के लिए आरक्षित रहेगी। बिहार सरकार ने 1956 में एक अधिसूचनाा जारी कर पुरे प्रदेश में 21 जातियों को अनुसूचित जातियों का दर्जा प्रदान किया। जैसे ये जातियों थी- दुसाध, डोम, धोबी, चैपाल, चमार, बांतर, बाउरी, भोग्ता, घोसी, हलालखोर, हारी, कुर्रयियार, लालबेगी, तूरी, रजवार, स्वास, पासी, दबंगा, मेहतर, और भुईया। [11]

पूना समझौते के बाद सत्ता के प्रतिनिधि संगठनों में प्रतिनिधित्व के कारण दलित राजनीतिक नेताओं तथा कार्यकर्ताओं की एक श्रेणी बनने लगी थी। आजादी के बाद इस श्रेणी का और ज्यादा विस्तार हुआ। सत्ता में दलित वर्ग के प्रतिनिधित्व के कारण मंत्रियों तथा विधायकों की छत्रछाया में बिचैलियों और ठेकेदारों की एक श्रेणी भी उभरने लगी थी। इस मध्यवर्ग का कांग्रेस से वह भावनात्मक लगाव नहीं था, जो पुरानी पीढ़ी के कांग्रेसी दलित नेताओं का। [12] बिहार वह राज्य है जिसने राज्य को न सिर्फ पहला दिया, बल्कि देश के पहले दलित उप- प्रधानमंत्री से लेकर पहले मुख्यमंत्री के साथ-साथ पहली दलित महिला लोकसभा स्पीकर भी बिहार से ही रही है। 1967 के बिहार विधानसभा चुनाव के राजनीति में दलितों मे एक महत्वपूर्ण बदलाव देखने के मिला। 1968 में बिहार की सत्ता की कमान संभालने वाले भोला पासवान शास्त्री देश में पहले दलित मुख्यमंत्री बने थे, उन्होनें एक बार नही तीन बार मुख्यमंत्री के तौर पर सत्ता संभाली। इतना ही नहीं वे सदन में चार बार नेता प्रतिपक्ष भी रहे, 1973 ई0 में प्रधानमंत्री इंदिरा गाँधी की सरकार में राजसभा से सांसद चुने जाने के बाद वह केन्द्र में मंत्री के पद पर भी रहे। देश में जब पहली बार अनुसूचित और अनुसूचित जनजाति आयोग का गठन किया तो इसके पहले अध्यक्ष इन्हीं को बनाया गया। [13] बाबू जगजीवन राम उत्तर भारत के राष्ट्रवादी दलित आंदोलन के पुरोधा थे। ये राष्ट्रीय स्तर पर एक सफल दलित नेता के रुप में अपनी पहचान बना चुके थे, वे सबसे लम्बे अरसे तक केन्द्र में विभिन्न मंत्रालयों में मंत्री पद पर रह चुके थे। उसके बाद जितने भी चुनाव हुए बिहार विधान सभा का दलितों की संख्या मंत्रीमण्डल में एक उचित

स्थान पाया। 1977 के भारत के लोकसभा चुनाव और विधान सभा का चुनाव देखने को मिला जिसमें जगजीवन राम कांगेस पार्टी छोड़कर जनता पार्टी में शामिल हो गए। इस पार्टी ने जगजीवन राम को उपप्रधान मंत्री बनाया। बिहार के हाजीपुर लोकसभा सीट से रामविलास पासवान ने रिकार्ड मत जीत हासिल किया। 1979 में बिहार की कमान मुख्यमंत्री के तौर पर दुसरे दलित नेता राम सुंदर दास (1979-1980) को बनाया गया, लेकिन फिर उनके बाद कोई दलित मुख्यमंत्री बिहार को नही मिल सका। [14]

इस दलित मध्यवर्ग को एक कांग्रेस-विरोधी शक्ति में बदलने में सन् '74 के बिहार आंदोलन ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। बाद के कुछ दलित नेता इसी आंदोलन की उपज थे। इस समय तक स्कूलों-कॉलेजों में दलित छात्रों की उपस्थिति हजारों की संख्या में पहुँच चुकी थी और छात्र आंदोलन में इन छात्रों ने भी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की थी। प्रसंगवश, इस आंदोलन के दौरान गठित छात्र-युवा संघर्ष वाहिनी ने बोधगया महंथ के खिलाफ दलित खेत मजदूरों और गरीब किसानों का लंबा संघर्ष चलाया। [15] वहाँ के भुइया खेत मजदूरों तथा गरीब किसानों कोतत्कालीन जनता पार्टी और फिर जनता दल से जोड़ने में इस आंदोलन की अहम भूमिका थी। बिहार के कुछ अन्य हिस्सों में भी वाहिनी ने जयप्रकाश नारायण के 'शांतिमय वर्ग संघर्ष' को जमीन पर उतारने की कोशिश की थी। [16] 1970 से लेकर 1990 के बीच बिहार की राजनीति की सबसे बड़ी विशेषता थी मध्यवर्ती जातियों का राजनीति में उत्कर्ष। जब मध्यवर्ती जातियों के हाथों में सत्ता आयी तब उन्होंने भी उन्हीं हथकडों का प्रयोग शुरू किया जो लंबे समय से सामंतवादी ताकतें का प्रयोग करते आये थे। संख्या के आधार पर भविष्य में पिछड़ी जातियों को दलितों से ही चुनौती मिल सकती थी। अतः मध्यवर्ती जाति के लोगों के हाथों में दलितों से ही शोषित होना स्वाभाविक ही था। बिहार दलित विकास संगठन (बिहार दलित विकास समिति) की स्थापना 1982 में जोस कनैनिकिल द्वारा भारत के बिहार में दलित पुरुषों और महिलाओं की ग्रामीण स्तर पर लाभबंदी, एक जुटता निर्माण, दलितों के शैक्षणिक, आर्थिक सशक्तिकरण एवं जातिगत भेदभाव के उन्मूलन के लिए की गई थी। [17] भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में स्वतंत्रता का पाँचवा दशक (1990-2000) दलित उत्थान की दृष्टि से सकारात्मक और नकारात्मक दशक कहा जा सकता है। सकारात्मक इसलिए कि दलितों को सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय की चेतना प्रदान करने में दलितों की राजनीति करने वाले राजनीतिक दलों के राजनेताओं का महत्वपूर्ण योगदान रहा और नकारात्मक इसलिए की जातिवादी राजनीतिक विभाजन की प्रक्रिया का आरंभ हुआ और इसी कारण राजनीतिक अस्थिरता का जन्म हुआ। इसी परिणाम स्वरुप गठबंधन सरकारों का गठन हुआ। इसी दशक में श्री वी.पी. सिंह का सामाजिक न्याय, कांशीराम-मायावती, मुलायम सिंह और लालू प्रसाद का जातिवादी आक्रामक रुख ने गाँधी-अम्बेडकर के बीच मतभेद उभारकर राजनीति सत्ता भी प्राप्त की। दलितों की राजनीतिक करने वाले राजनीतिक दलों (बसपा, लोजपा, जनता दल, सपा, और राजद) ने सामाजिक विखंडन की प्रक्रिया का आरंभ कर के जातिव्यवस्था की जड़ों को ही मजबूत किया। [18]

निष्कर्ष:

दलित आंदोलनों ने अपने संघर्षों के माध्यम से जाति आधारित शोषण को चुनौती दी है। दलितों के संघर्ष ने उन्हे मुख्यधारा के राजनीतिक शक्ति संरचना तंत्र में राह बनाने की ओर बढ़ा दिया। विगत 70 वर्षो में भारत में तीन महान दलित नेता हुए जिन्होने हमारे जातिवाद से ग्रसित समाज में दलितों को अपने अधिकारों के लिए जगाया। ये नेता हैं- डॉ. भीमराव अम्बेडकर, बाबू जगजीवन राम और कांशीराम। बिहार की राजनीति में जाति की भूमिका इस प्रकार से है कि दलित राजनीति नई धुरी बनकर रह गई है। ग्राम पंचायत से लेकर विधानसभा और यहाँ तक की लोकसभा चुनाव में भी जातीय समीकरण देखती है। अब बिहार की राजनीति में पिछड़ो एवं दलितों को राजनीतिक संरक्षण और उनकी आवाज को मजबूती मिली जिससे उनमें चेतना के विकास का संचार हुआ। बिहार की राजनीति में जातिवाद चरम पर पहुँच गया और चुनावों में सत्ता प्राप्त करने हेतू आज एक तरफ दलित आंदोलन में आंतरिक तनाव है तो दूसरी तरफ बाहरी चुनौतिया भी है। इस परिपेरक्ष्य में प्रस्तावित शोध पत्र दलित राजनीतिक के संबंधित नवीन शोधों और विचारों को एक साथ लाने का प्रयास है। जिससें इसकी प्रकृति और व्यवहार, सफलताओं, दिक्कतों और चुनौतियों की बारे में बात की जा सकें। वास्तव में दलित आंदोलन सत्ता हथियाने, किसी प्रांत पर कब्जा करने किसी राज्य के विस्तार का आंदोलन नहीं है। यह दलित समाज द्वारा अपनी गरिमा की रक्षा, सामाजिक शोषण और उत्पीड़न से छुटकारा पाने का आंदोलन है।

संदर्भ सूची:

1. राजकिशोर, दलित राजनीति की समस्याएँ, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2018 पृ० 37
2. सिद्धार्थ, कांशीराम बहुजनों के नायक, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली,2019, पृ० 20
3. प्रसन्न कुमार चौधरी/श्रीकांत, बिहार में दलित आंदोलन (1912-2000), वाणी प्रकाशन, 2005 पृ० 195
4. राजभूषण उपाध्याय, बिहार में दलित चेतना का विकास (1937-64), जानकी प्रकाशन, पटना, 2007, पृ० 37
5. बिहार एंड उड़ीसा लेजिस्लेटिव काउंसिल, 31 जनवरी, 1922, खंड 4, पृ० 122
6. प्रसन्न कुमार चौधरी/श्रीकांत, बिहार में दलित आन्दोलन 1912-2000, पूर्वोद्धृत, पृ० 243
7. वही पृ० 244
8. वही पृ० 245
9. दि इंडियन नेशन 2 दिसंबर,1952
10. इलया पेरुमल समिति की रिपोर्ट, कल्याण मंत्रालय, भारत सरकार,1969
11. जगजीवन, राम, भारत में जातिवाद और हरिजन समस्या, समाख्या प्रकाशन, नई दिल्ली, 1990, पृ० 11
12. के. एल चंचरीक/धीर सिंह, भारतीय दलित आन्दोलन की रूपरेखा, यूनिवर्सिटी पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 2007, पृ० 67
13. वही पृ० 68
14. जगजीवन राम, भारत में जातिवाद और हरिजन समस्या, पूर्वोद्धृत पृ० 14
15. वही पृ० 15
16. योगेश्वर पासवान,'इकॉनॉमिक डेवलपमेण्ट ऑफ शेडुल्ड कास्ट्स इन विहार', खण्ड 1,दरभंगा,1995, पृ० 32
17. जटाशंकर झा, (सं.), रीजनल रेकर्ड सर्वे कमिटी, बिहार, 1965-671, पृ० 80
18. प्रसन्न कुमार चौधरी/श्रीकांत, बिहार में सामाजिक परिवर्तन के कुछ आयाम, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2001, पृ० 112